६

राग का ऊर्ध्वीकरण

आध्यात्मिक-साधना के सम्बन्ध में, धर्म के विधि-निषेध एवं मर्यादा के सम्बन्ध में सोचते हुए हमने कुछ भूलें की हैं। अनेक प्रकार की भ्रांतियों से हमारा चिंतन दिग्मूढ़-सा हो गया है, ऐसा मुझे कभी-कभी लगता है। साधना का प्रवाह उस झरने की भांति अपने मूल उद्गम पर बहुत ही निर्मल और स्वच्छ था, किन्तु ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया, उसमें भ्रांतियों का कूड़ा-कचरा मिलता गया और प्रवाह में एक प्रकार की मलिनता आती गई। आज उसका गँदला पानी देख कर कभी-कभी मन चौंक उठता है और सोचने को विवश हो जाता है कि क्या यह कूड़ा-कचरा निकाला नहीं जा सकता? इस प्रवाह की पवित्रता और निर्मलता को कचरा कब तक ढँके रखेगा?

इस सम्बन्ध में समय-समय पर बहुत कुछ कहता रहा हूँ। इसके लिए पास-पड़ोस की दूसरी परम्पराओं और चिंतन-शैलियों की टीका-टिप्पणी भी मैं करता रहा हूँ, उनकी मलिनता पर चोट करने से भी मैं नहीं हिचकता। परन्तु, इसकी पृष्ठभूमि में मेरी कोई सांप्रदायिक आग्रह या दुराग्रह की मनोवृत्ति नहीं है। यही कारण है कि भूलों एवं भ्रान्तियों के लिए अपनी साम्प्रदायिक-परम्परा और विचार-धारा पर भी मैंने काफी कठोर प्रहार किए हैं। विचार-प्रवाह में जहाँ मलिनता हो, उसे छिपाया नहीं जाए, फिर वह चाहे अपने घर में हो या दूसरे घर में। मैं इस विषय में बहुत ही तटस्थता से सोचता हूँ और मलिनता के प्रक्षालन में सदा उन्मुक्त भाव से अपना योग देता रहा हूँ।

साधना में द्वैध क्यों?

हमें सोचना है कि जिसे हम साधना कहते हैं, वह क्या है? जिसे हम धर्म समझते हैं, वह क्या है? वह कहाँ है? किस रूप में चल रहा है और उसे किस रूप में चलना चाहिए?

एक सबसे विकट बात तो यह है कि हमने साधना को अलग-अलग कठघरों में खड़ा कर दिया है। उसके व्यक्तित्व को, उसकी आत्मा को विभक्त कर दिया है। उसको समग्रता के रूप में हमने नहीं देखा। टुकड़ों में देखने की आदत बन गई है। लोग घर में कुछ अलग तरह की जिन्दगी जीते हैं, परिवार में कुछ अलग तरह की। घर के जीवन का रूप कुछ और है और मंदिर, उपाश्रय, धर्म-स्थानक के जीवन का रूप कुछ और ही है। वे अकेले में किसी और ढंग से जीते हैं और परिवार एवं समाज के बीच किसी दूसरे ढंग से। मैंने देखा है, समाज के बीच बैठकर जो व्यक्ति फूल की तरह मुस्कराते हैं, फव्वारे की तरह प्रेम की फुहारें बरसाते हैं, वे ही घर में आकर रावण की तरह रौद्र बन जाते हैं। क्रोध की आग उगलने लगते हैं। धर्म स्थानक में या मंदिर में जिन्हें देखने से लगता है कि ये बड़े त्यागी-वैरागी हैं, भक्त हैं, संसार से इन्हें कुछ लेना-देना नहीं, निस्पृहता इतनी है कि जैसे अभी मुक्ति हो जाएगी, वे ही व्यक्ति जब वहाँ से बाहर निकलते हैं, तो उनका रूप बिल्कुल ही बदल जाता है, धर्म की छाया तक उनके जीवन पर दिखाई नहीं देती।

मैं सोचता हूँ, यह क्या बात है? जीवन पर इतना द्वैध क्यों आ गया? साधना में यह बहुरूपियापन क्यों चल पड़ा? लगता है, इस सम्बन्ध में सोचने-समझने की कुछ भूलें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुई हैं, वे भूलें शायद आपने उतनी नहीं की होगी, जितनी कि गुरुपद से हमने की होंगी। और, वे नयी भी नहीं, बहुत पुरानी हैं। वे काफी पहले से चली आ रही हैं।

धर्म : केवल परलोक के लिए?

मैं जब इन बँधी-बँधाई मान्यताओं और चली आ रही परम्पराओं की ओर देखकर पूछता हूँ—"धर्म किसलिए है?" तो एक टकसाली उत्तर मिलता है—"धर्म परलोक सुधारने के लिए है।" "यह सेवाभक्ति, दान-पुण्य किसलिए? परलोक के लिए।" हम बराबर कहते आये हैं—"परलोक के लिए कुछ जप-तप कर लो, आगामी जीवन के लिए कुछ गठरी बाँध लो।" मंदिर के घंटे-घड़ियाल—केवल परलोक-सुधार का उद्घोष करते हैं, हमारे ओघे-मुखपत्ती जैसे परलोक-सुधार की नामपट्टियाँ बन गए हैं। जिधर देखो, जिधर सुनो, परलोक की आवाज इतनी तेज हो गई है कि कुछ और सुनाई ही नहीं देता। एक अजीब कोलाहल, एक अजीब भ्रांति के बीच हम जीवन जी रहे हैं, केवल परलोक के लिए!

हम आस्तिक हैं, पुनर्जन्म और परलोक के अस्तित्व में हमारा विश्वास है, किन्तु इसका यह मतलब तो नहीं कि उस परलोक की बात को इतने जोर से कहें कि इस लोक की बात कोई सुन ही नहीं सके। परलोक की आस्था में इस लोक के लिए आस्थाहीन होकर जीना, कैसी आस्तिकता है?

मेरा विचार है, यदि परलोक को देखने-समझने की ही आपकी दृष्टि बन गई है, तो इस जीवन को भी परलोक क्यों नहीं समझ लिया जाए? लोक-परलोक सापेक्ष शब्द हैं। पुनर्जन्म में यदि आपका विश्वास है, तो पिछले जन्म को भी आप अवश्य मानते हैं? अतः अतीत के पिछले जीवन की दृष्टि से क्या यह जीवन परलोक नहीं है? पिछले जीवन में आपने जो कुछ साधना-आराधना की होगी, उस जीवन का परलोक यही तो वर्तमान है। फिर आप इस जीवन को भूल क्यों जाते हैं? परलोक के नाम पर इस जीवन की उपेक्षा, अवगणना क्यों कर रहे हैं?

लोकातीत साधना :

भगवान् महावीर ने साधकों को सम्बोधित करते हुए कहा था—"**आराहए लोगमिणं तहा परं**"—साधको! तुम इस लोक की भी आराधना-साधना करो, परलोक की भी। लोक और परलोक में आत्मा की कोई दो भिन्न सत्ता नहीं है, जो आत्मा इस लोक में है, वही परलोक में भी जाती है, जो पूर्व जन्म में थी, वही इस जन्म में आई है। इसका मतलब है—पीछे भी तुम थे, यहाँ भी तुम हो और आगे भी तुम रहोगे। तुम्हारी सत्ता अखण्ड और अनन्त है। तुम्हारा वर्तमान इहलोक है, तुम्हारा भविष्य परलोक है। जिन्दगी जो नदी के एक प्रवाह की भाँति क्षण-क्षण में आगे बहती जा रही है, वह लोक-परलोक के दो तटों को अपनी करवटों में समेटे हुए है। जरा सूक्ष्मदृष्टि एवं तत्त्वदृष्टि से विचार किया जाए, तो जीने-मरने पर ही लोक-परलोक की व्यवस्था नहीं है। वर्तमान जीवन में ही लोक-परलोक की धारा बह रही है। जीवन का हर पहला क्षण लोक है, और हर दूसरा क्षण परलोक। लोक-परलोक इस जिन्दगी में क्षण-क्षण में आ रहे हैं, जा रहे हैं। हमने लोक-परलोक को बाजारू शब्द बना दिए और यों ही गोटी की तरह फेंक दिया है खेलने के लिए। यदि इन शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ समझा जाए, लोक-परलोक की सीमाओं का सही रूप समझा जाए, तो जो भ्रांतियाँ आज हमारी बुद्धि को गुमराह कर रही हैं, वे नहीं कर पाएँगी।

हम जो लोक-परलोक को सुधारने की बात कहते हैं, उसका अर्थ है, वर्तमान और भविष्य—दोनों ही सुधरने चाहिएँ। यदि वर्तमान ही नहीं सुधरा, तो भविष्य कैसे सुधरेगा?

"लोक नहीं सुधरा है यदि तो,
कैसे सुधरेगा परलोक?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर ने: **'आराहए लोकमिणं तहा परं'** की जो घोषणा की, वह न परलोकवादियों को चुनौती थी और न लोकवादियों को ही चुनौती थी, बल्कि एक स्पष्ट, अभ्रांत दृष्टि थी, जो दोनों तटों को एक साथ स्पर्श कर रही थी।

अनेक बार हमारे सामने वीतरागता का प्रश्न आता है, उसकी पर्याप्त चर्चाएँ होती हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि यह वीतरागता क्या है? यह लोक है, या परलोक है? इसका सम्बन्ध किससे है? किसी से भी तो नहीं है। वीतरागता लोक-परलोक से परे है, वह लोकातीत है। भगवान् महावीर का इस संदर्भ में स्पष्ट उद्‌बोधन है—"तुम लोक-परलोक की दृष्टि से ऊपर उठ कर 'लोकातीत' दृष्टि से क्यों नहीं सोचते? काल प्रवाह में अपनी अखण्ड सत्ता की अनुस्यूति को क्यों नहीं अनुभव करते? वर्तमान और भविष्य में तुम्हारी सत्ता विभक्त नहीं है, वह एक है, अखण्ड है, अविच्छिन्न है। फिर अपने को टुकड़ों में क्यों देखते हो?"

जैन-दर्शन एक ओर लोक-परलोक की आराधना की बात कहता है, दूसरी ओर लोक-परलोक के लिए साधना करने का निषेध भी कर रहा है। वह कहता है—**"नो इह लोगट्ठयाए, नो परलोगट्ठयाए...**" न इस लोक के लिए साधना करो, न परलोक के लिए ही। लोक-परलोक—यह रागद्वेष की भाषा है, आसक्ति का रूप है, संसार है। सुख-दुःख का बंधन है। हमें लोक-परलोक से ऊपर उठकर 'लोकातीत' दृष्टि से सोचना है। और, वह लोकातीत दृष्टि ही वीतराग-दृष्टि है।

वीतराग का जब निर्वाण होता है, तो हम क्या कहते हैं? परलोकवासी हो गए...? नहीं, परलोक का अर्थ है, पुनर्जन्म। और, पुनर्जन्म तभी होगा, जब आत्मा में राग-द्वेष के संस्कार जगे होंगे। राग-द्वेष के संस्कार वीतराग में हैं नहीं। वीतराग की मृत्यु का अर्थ है—लोकातीत दशा को प्राप्त होना। यदि हम लोक-परलोक के दृष्टिमोह से मुक्त हो जाते हैं, तो इस लोक में भी लोकातीत दशा की अनुभूति कर सकते हैं। देह में भी विदेह स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। श्रीमद् रायचन्द्र के शब्दों में—

> **"देहछतां जेहनी दशा वर्ते देहातीत।**
> **ते ज्ञानी ना चरणमां वन्दन हो अगणीत॥"**

राग का प्रत्यावर्तन :

लोक-परलोक के सम्बन्ध में जैसी कुछ भ्रान्त धारणाएँ हैं, वैसी ही वीतरागता के सम्बन्ध में भी हैं। वीतरागता एक बहुत ऊँची भूमिका है। उसके लिए अत्यन्त पुरुषार्थ जगाने की आवश्यकता है। परन्तु हम देखते हैं, नीचे की भूमिकाओं में क्षुद्रमन के व्यक्ति उसका प्रदर्शन करते हैं और कर्तव्य से च्युत होते हैं। अतः आज के सामान्य साधक के समक्ष प्रश्न यह है कि जब तक यह लोकातीत स्थिति प्राप्त न हो जाए, तबतक इस लोक में कैसे जिएँ? जब तक देहातीत दशा न आए, तब तक देह को किस रूप में सँभालें? जब तक वीतराग दृष्टि नहीं जगती है, तब तक राग को किस रूप में प्रत्यावर्तित करें कि वह कोई बन्धन नहीं बने। यदि बन्धन भी बने, तो कम से कम लोहे की बेड़ी तो न बने! जब तक आत्मा के ज्योतिर्मय स्वरूप का दर्शन न हो, तब तक इतना तो करें कि कम-से-कम अन्धकार में भटक कर ठोकरें तो न खाएँ!

साधक के सामने यह एक उलझा हुआ प्रश्न खड़ा है। वह समाधान चाहता है और यह समाधान खोजना ही होगा। आचार्यों ने इसका उत्तर दिया है—जब तक वीतरागता नहीं आए, तब तक राग को शुभ बनाते रहो। राग अशुभ भी होता है, शुभ भी। अशुभ-राग मलिन है, शुभ-राग कुछ निर्मल है। बन्धन दोनों हैं। पर, दोनों में अन्तर है। एक कांटे की चोट है, तो एक फूल की चोट है।

भगवान् महावीर ने लोक-परलोक की आराधना करने का जो उद्‌घोष दिया है, वह राग को शुभ एवं निर्मल बनाने की एक प्रक्रिया है। जैसा मैंने आपसे कहा—वीतराग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशा तो लोकातीत दशा है। वहां लोक-परलोक को सुधारने की बात ही कहाँ है? जो शुद्ध दशा है, वहाँ फिर सुधार की क्या बात? अशुद्ध को ही सुधारा जाता है, इसलिए सामान्य साधक के लिए शुद्ध से पहले शुभ की भूमिका रखी गई है, वीतरागता से पूर्व शुभराग का मार्ग बताया गया है।

साधु का जो विधि-निषेधात्मक क्रियारूप आचार-धर्म है, वह क्या है? दान, दया, सेवा, उपासना और भक्ति-पूजा के विधि-विधान क्या हैं? क्या यह वीतराग-धर्म है? नहीं, वीतरागता में तो सहज दशा होती है, वहाँ विधि-निषेधों के विकल्पों की कोई गुंजाइश नहीं। आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में विचरण करती है। वहाँ इन्द्रियनिग्रह किया नहीं जाता, स्वतः हो जाता है। इसलिए वह इन्द्रियातीत दशा है। फिर इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह, देव, गुरु, धर्म की भक्ति, पूजा-प्रार्थना आदि के विकल्प वीतराग दशा में कैसे हो सकते हैं? आचार्य कुन्दकुन्द जैसे आध्यात्मवादी चिंतकों ने तो इन सब क्रियाओं को शुभराग माना है। इसका अर्थ यह है कि यह सब राग का ऊर्ध्वीकरण है, राग की शुभदशा है। अहिंसा पर किसी को तभी स्थिर किया जा सकेगा, जब उसके मन में स्नेह एवं करुणा की धारा बहती होगी। सत्य और अचौर्य की प्रेरणा तभी काम कर सकेगी, जब अनीति से परे नैतिक-निष्ठा जागृत होगी। मानव-जाति का आज जो विकास हुआ है, उसके चिंतन में जो उदात्तता आई है, वह निश्चित ही उसके स्नेह, करुणा और शुभराग की परिणतियाँ हैं। यदि मनुष्य के हृदय में शुभराग की वृत्ति नहीं होती, तो शायद मनुष्य, मनुष्य भी नहीं रह पाता। फिर आप कहाँ होते? हम कहाँ होते? कौन किसके लिए होता?

एक बार मैंने देखा—एक चिड़िया घोंसले में बैठी अपने बच्चों की चोंच में दाना दे-देकर उन्हें खिला रही थी। इधर-उधर से बड़ी मेहनत करके वह दाना लाती और बच्चों के मुंह में बड़े प्यार से डालती? मेरे पास ही खड़े एक मुनिजी ने पूछा—यह ऐसा क्यों करती है? क्या मतलब है इसका?

मैंने हँसकर कहा—मतलब चिड़िया से मत पूछो, इन्सान से पूछो। मतलब की भाषा उसी के पास है, वहाँ तो एक प्राकृतिक स्नेह-राग है, जो प्रत्येक जीवधारी को एक-दूसरे के लिए उपकृत करता है। यह स्नेह ही प्राणी को एक-दूसरे के निकट लाता है, एक से अनेक बनाता है, परिवार और समाज के रूप में उसे एक रचनात्मक व्यवस्था से बाँधता है। यह स्नेह भले ही मोह का रूप है, पर मोह से हम कहाँ मुक्त हुए हैं? जहाँ पारिवारिक जीवन है, एक-दूसरे के साथ रागात्मक सम्बन्ध है, वहाँ मोह तो है ही। परिवार, समाज, यहाँ तक कि धर्म-संघ और सम्प्रदाय सभी इस मोह से बँधे हैं। हाँ, जहाँ यह मोह उदात्त बन जाता है, स्नेह व्यापक बन जाता है, वहाँ उसकी अपवित्रता कम हो जाती है, वह मोह, वह राग, शुभ के रूप में बदल जाता है। अर्हंद्-भक्ति, सिद्ध-भक्ति, गुरु-भक्ति आदि के रूप भी इसी उदात्त शुभ राग की कोटि में आते हैं।

वीतरागता का नाटक :

वीतरागता हमारा मुख्य धर्म है, महान् ध्येय है। किन्तु जब तक वह वीतरागता नहीं आती है, तब तक हमें राग को अधिकाधिक पवित्र एवं उदात्त बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। अपने निज के दैहिक स्वार्थ और मोह से ऊपर उठकर उसको मानव-चेतना और समग्र जीव-चेतना तक व्यापक बनाना चाहिए। अन्यथा साधक की यह महान् भूल होगी कि वह एक ओर वीतरागता का नाटक खेलता रहे, पर दूसरी ओर न तो वह उसे प्राप्त कर सके और न इधर राग को पवित्र बनाकर दूसरों की सेवा-सहयोग ही करने का प्रयत्न करे। यह स्थिति बड़ी दुविधापूर्ण होगी।

एक बार सुदूर प्रान्त के कुछ साधु लुधियाना (पंजाब) में पधारे। एक मुनिजी ने, जो बात-बात में अपने को बहुत बड़े वैरागी और अध्यात्मवादी प्रदर्शित करते रहते थे, एक दिन व्याख्यान में आत्मा और पुद्गल की बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें कहीं। और,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़े जोश में ललकार कर कहा—"पुद्गल पर-भाव है, आत्मा का शत्रु है। इसे लात मारो, तभी मुक्ति होगी।"

व्याख्यान दे कर उठे, गोचरी का समय हुआ, तो पात्र संभाले और पहले विराजित एक स्थानीय बुजुर्ग सन्त से बोले—"तपसीजी ! कुछ ऐसे घरों में ले चलो, जहाँ पुद्गलों की साता हो।" साधु-जनों की सांकेतिक-भाषा में पुद्गलों से उनका मतलब था, कि आहार-पानी अच्छा और साताकारी तर-माल मिले।

तपसीजी मुस्करा कर बोले—"भाई ! अभी ही कुछ देर पहले तो आप पुद्गल को लात मार रहे थे, अब पुद्गल की साता की बात करने लगे, यह क्या तमाशा है ?"

कुछ उत्तर न था, वैराग्य का नाटक खेलने वाले मुनिजी के पास।

यही तो वीतरागता का नाटक है। जब हम जीवन में अपने लिए वीतरागी नहीं बन सकते, अपने शरीर की साता और मोह को नहीं छोड़ सकते, तो फिर केवल दूसरों के प्रति उदासीन और निस्पृह होने की बात कहने से क्या लाभ है ? जीवन-व्यवहार में सरलता आनी चाहिए, सचाई को स्वीकार करने का साहस होना चाहिए। और, यह मानना चाहिए कि जिन आदर्शों तक पहुँचने में हमें अभी तक कठिनाई अनुभव होती है, तो दूसरों को भी अवश्य ही होती होगी। फिर उस कठिनाई के बीच का मार्ग क्यों नहीं अपनाया जाए ?

धर्म का मुख्य रूप वीतरागता है, वह लक्ष्य में रहना चाहिए। उस ओर यात्रा चालू रखनी चाहिए। परन्तु, जब तक वह सहज भाव से जीवन में न उतरे, तब तक धर्म का गौण रूप शुभभाव भी यथाप्रसंग होता रहना चाहिए। निर्विकल्पता न आए, तो शुभ विकल्प का ही आश्रय लेना चाहिए, अशुभ विकल्प से बचना चाहिए।

गणधर गौतम की बात अभी हमारे सामने है। इतना बड़ा साधक, तपस्वी जिसके लिए भगवती सूत्र में कहा है—**'उग्गतवे घोरतवे दित्ततवे'**—तपस्वियों में भी जो उत्कृष्ट थे और ज्ञानियों में भी ! उन्होंने जब अपने ही शिष्यों को केवली होते देखा, तो वे मन में क्षोभ और निराशा से क्लांत हो गए और सोचने लगे कि—"यह क्या ? मुझे अभी भी केवलज्ञान नहीं हो रहा है और मेरे शिष्य केवली हो रहे हैं, मुक्त हो रहे हैं ?"

भगवान् महावीर ने गौतम के क्षोभ को शान्त करते हुए कहा—"गौतम ! तुम्हारे मन में अभी तक मोह और स्नेह का बंधन है।"

गौतम ने पूछा—"किसके साथ ?"

भगवान् ने कहा—"मेरे प्रति ! मेरे व्यक्तित्व के प्रति तुम्हारे मन में एक सूक्ष्म अनुराग, जो जन्म-जन्मान्तर से चला आ रहा है, वह राग-स्नेह ही तुम्हारी मुक्ति में बाधक बन रहा है।"

गौतम यह सब-कुछ जानकर भी भगवान् के प्रति अपना प्रेमराग छोड़ नहीं पाए। और, आप देखते हैं कि गौतम का वह अनुराग भगवान् के निर्वाण के समय इतना प्रबल हो जाता है कि आँसुओं के रूप में बाहर बह आता है। इसे हमारे कुछ साथी मोह बताकर एकान्त अशुभ एवं दूषित कह सकते हैं, परन्तु मैं तो इसे मोह मान कर भी एकान्त अशुभ नहीं मान सकता। यह भक्ति-विभोर भक्त-हृदय की अमुक अंश में शुभ परिणति है। यह मानव हृदय की एक स्नेहात्मक स्थिति है, गुणानुराग की वृत्ति है। आँसू केवल शोक के ही आँसू नहीं होते, भक्ति और प्रेम के भी आँसू होते हैं, करुणा के भी आँसू होते हैं।

मनुष्य समाज में अकेला नहीं जीता, उसके साथ परिवार होता है, समाज होता है, संघ होता है। वह सूखे वृक्ष की भाँति निरपेक्ष तथा निश्चेष्ट रह कर यों ही शून्य में कैसे जी सकता है ? उसके मन में पास-पड़ोस की घटनाओं की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। यदि आपकी चेतना का ऊर्ध्वमुखी विकास हो रहा है, तो आप किसी को प्रगतिपथ पर बढ़ते देखकर, किसी के व्यक्तित्व को विकसित होते देखकर मुस्करा उठेंगे, दूसरों की प्रसन्नता से प्रसन्न हो जाएँगे, दूसरों के गुणों पर कमल-पुष्प की भाँति प्रफुल्ल हो जाएँगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और इसके विपरीत यदि आपकी चेतना कुण्ठाग्रस्त है, उसका प्रवाह अधोमुखी है, तो आप ईर्ष्या और डाह से जल उठेंगे। किसी के गुणों की प्रशंसा सुनकर मन ही मन तिलमिला उठेंगे, जैसे सौ-सौ बिच्छुओं के एक साथ डंक लग गये हों! किसी को बढ़ते देखकर उस पर व्यंग्य करेंगे, उसे गिराने की चेष्टा करेंगे।

अब आप सोचिए, इन दोनों स्थितियों में कौन-सी स्थिति श्रेष्ठ है? प्रमोद से जीना, दूसरों के गुणों और विशेषताओं पर प्रसन्नतापूर्वक जीना—यह ठीक है, या रात दिन ईर्ष्या-डाह से तिलमिलाते रहना? जब तक वीतराग-दशा नहीं आती है, तब तक इन दोनों में से एक मार्ग चुनना होगा। पहला मार्ग है, शुभ राग का और दूसरा मार्ग है, अशुभ राग का, द्वेष का। राग जब अधोमुखी होता है, तो अन्ततः वह द्वेष का रूप ले लेता है, इसलिए अशुभ राग या द्वेष में कोई विशेष अन्तर नहीं रहता।

गुणों का आदर : प्रमोद भावना :

जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य में चार भावनाएँ आती हैं, उन चार भावनाओं में दूसरी भावना है—"**गुणिषु प्रमोदं**" गुणी के प्रति प्रमोद—प्रसन्नता की भावना! जैन-दर्शन की तो यह उच्चतम जीवन-दृष्टि है। हम अपने में, अपने परिपार्श्व में कहीं भी, किसी चेतना को विकसित होते देखकर, कहीं भी ज्योति को चमकते देखकर, उसके प्रति प्रसन्नता अनुभव करें, प्रमोद से पुलक उठें—यह जीवन में सबसे बड़ा आनन्द का मार्ग है। गुणों का स्वागत करना, उनके विकास को प्रोत्साहित करना, हमारी आध्यात्मिक चेतना की ऊर्ध्वमुखी वृत्ति है। भगवान् महावीर ने इस वृत्ति को राग तो कहा है, पर शुभ राग कहा है और इसे प्रोत्साहित किया है। आगमों में जहाँ महावीर ने श्रावकों का वर्णन किया है, वहाँ पर एक विशेषण आता है, "अट्ठिमिज्ज पेमाणुराग रत्ते"—वे अस्थि और मज्जा तक धर्म के प्रेमानुराग से रंजित थे! यह निश्चित है कि यह 'प्रेमानुराग' वीतराग धर्म तो नहीं है, फिर भी धार्मिक की उल्लेखनीय विशेषता है। अतः इसका अर्थ है—अनुराग, गुणानुराग, धर्मानुराग। और, यह जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वीत-रागता के नाम पर यदि हम किसी उभरते हुए व्यक्तित्व को देखकर भी मौन रहते हैं, किसी सद्गुणों के कल्पवृक्ष को लहलहाते देख कर भी उदासीन बने रहते हैं, तो मैं मानता हूँ, हमारी चेतना अभी कुण्ठित है, उसका प्रवाह अधोमुखी है और यह वृत्ति जीवन एवं जगत् के लिए घातक है।

मैं आपसे स्पष्ट कह दूं कि—जब भी किसी होनहार व्यक्तित्व में विकास की अनेक संभावनाओं पर दृष्टि डालता हूँ, तो मुझे उसमें सर्जना की अनेक मौलिक कल्पनाएँ छिपी मिलती हैं। इनमें बौद्धिक विलक्षणता, तटस्थ चिंतन तथा सत्यानुलक्षी स्पष्टवादिता आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ निहित पाता हूँ, जो मेरे मन को प्रमुदित कर देती हैं। मानव की यही महान् निष्ठा है, शुभ वृत्ति है कि वह कहीं किसी श्रेष्ठता को, अच्छाई को अंकुरित होते देखे, तो सहज सद्भाव से उसके प्रति आकृष्ट हो; उसको विकसित होते देखे, तो सहज प्रसन्नता से झूम उठे।

कभी-कभी सोचता हूँ, हमारे श्रमण-श्रमणी वर्ग में भी यदि गुणानुराग के रूप में व्यवहार की सरलता और पवित्रता बनी रहे, तो हम अपने पवित्र आदर्शों को जन-जीवन में बहुत-कुछ उजागर कर सकते हैं। बिना किसी जाति, पन्थ या देश-भेद के गुणीजनों के श्रेष्ठ जीवन के प्रति अनुराग होना, एक उदात्त भाव है। मैं तो कहूँगा कि यदि किसी में गुणानुराग दृष्टि है, तो वह अवश्य ही एक पवित्र अनुराग की भावना से आप्लावित मानव ही नहीं, महामानव है।

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में कहा—धर्म और अध्यात्म की भूमिका पर खड़े होकर हमने कुछ बहुत ऊँची बातें सोची हैं। जीवन में निरपेक्षता और वीतरागता के उत्तरोत्तर अनेक आदर्श भी खड़े किए हैं, किन्तु वह भूमिका इतनी ऊँची है कि हम यों ही छलाँग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगाकर वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। इस स्थिति में, जब तक पूर्ण वीतराग नहीं हो जाते हैं, राग को अशुभ में से शुभ में परिणत करना चाहिए। खेद है, इस तथ्य को सोचने-समझने की भूल हमने की है। हम अपने देह, परिवार और सम्प्रदाय के निम्न अनुरागों में तो फँस गए हैं, किन्तु राग के जो ऊर्ध्वमुखी आदर्श रूप हैं—गुणानुराग, देव, गुरु, धर्म की भक्ति, सेवा, मैत्री, करुणा और सहयोग आदि—उन्हें भूल गए हैं, उन वृत्तियों को राग की कोटि में मानकर उनसे निरपेक्ष रहने की बात कहने लग गए हैं। चिन्तन की यह एक बहुत बड़ी भूल है, इस भूल को समझना है, सुधारना है—तभी हम जैन-धर्म के पवित्र आदर्शों को जीवन में साकार बना सकेंगे। और, राग के ऊर्ध्वीकरण एवं पवित्रीकरण की प्रक्रिया सीख सकेंगे। प्रवृत्तियों और कषायों से मुक्त होने का सही मार्ग यही है। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध—इस सोपानबद्ध प्रयाण से सिद्धि का द्वार आसानी से मिल सकता है। हनुमान-कूद तो हमें कभी-कभी निम्नतम दशा में ही बुरी तरह से पटक दे सकती है। राग का ऊर्ध्वीकरण-सोपानबद्ध प्रयाण ही इसके लिए उचित मार्ग है।

वीतरागता का भी यह एकान्त अर्थ नहीं है कि वह जन-कल्याण से पराङ्मुख हो कर यों ही निष्क्रिय दशा में जीवन के शेष वर्ष गुजारता रहे। वीतराग को भी जन-कल्याण के कार्य करने हैं। रागमुक्त होकर भी यह उदात्त कर्म किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में भगवान् महावीर को ही लीजिए। केवलज्ञान प्राप्त कर पूर्ण वीतराग अर्हन्त होने पर भी वे जीवन के शेष तीस वर्ष तक दूर-दूर के प्रदेशों में, बीच की गंगा, गंडकी आदि नदियों को नौकाओं से पार कर, हजारों साधु-साध्वियों के साथ, नगर-नगर, ग्राम-ग्राम भ्रमण कर जन-जन को कल्याण का उपदेश देते रहे, उन्हें अशुभ से शुभ में परिवर्तित करते रहे, दुर्व्यसनों एवं अन्धविश्वासों से मुक्त कर उनके अन्तर में दया, करुणा, मैत्री एवं पारस्परिक सद्भावना का अमृत निर्झर बहाते रहे।

जन-कल्याण जीवन का आदर्श है। जब तक राग है, उसे शुभ में परिणत कर के जन-कल्याण करें। और, जब पूर्ण वीतराग अर्हन्त हो जाएँ, तब भी निष्काम भाव से जन-जीवन का हित एवं निःश्रेयस साधते रहें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org